

# महाकाव्यों में शिक्षा का स्वरूप एवं आदर्श

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति  
एवं पुरातत्त्व विभाग

में

पी-एच०डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

की

संक्षेपिका



2006

निर्देशक

डॉ० देवेन्द्र कुमार गुप्ता

रीडर

शोधार्थी

यशवन्त सिंह

प्राच्य विद्या संकाय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

हरिद्वार - 249404 (उत्तरांचल)



ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥  
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥  
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥



## संक्षेपिका

---

भारतीय संस्कृति विश्व की श्रेष्ठ एवं समृद्ध संस्कृतियों में से एक है। यदि एक हम कहे कि यह विश्व की श्रेष्ठतम् संस्कृति है तो भी कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी, क्योंकि यहां जीवन के जिन उच्च आदर्शों एवं लक्ष्यों का निर्धारण हुआ, वह अन्यत्र कहीं भी दुर्लभ है। इस संस्कृति को संजोने तथा उच्च आदर्शों से सम्बन्धित करने का कार्य शिक्षा के माध्यम से ही सम्भव हुआ है। भारत में प्राचीन काल से ही शिक्षा मनुष्य के आध्यात्मिक विकास का एक महत्वपूर्ण माध्यम रही है। शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य का जीवन समृद्ध एवं उन्नत होता है तथा उसकी बुद्धि और प्रज्ञा सुदृढ़ एवं प्रांजल होती है। कोई भी मनुष्य किसी अन्य मनुष्य से उसी स्थिति में श्रेष्ठ माना जाता है जब उसकी बुद्धि और मस्तिष्क शिक्षा के द्वारा अधिक प्रखर और पूर्ण होते हैं इसलिए विद्याहीन मनुष्य को पशुवत कहा गया है। विद्या से ही मनुष्य अपना जीवन सार्थक करता है और इसके बिना उसका जीवन निरर्थक एवं सारहीन रहता है। वास्तव में शिक्षा वह अमूल्य औषधि है जो मनुष्य के अन्धविश्वास को मिटाती है और इससे उसे दूसरों के दृष्टिकोण को समझने में सहायता मिलती है। फलस्वरूप व्यक्ति न्यायप्रिय और दूरदर्शी बनता है। इसके संयोग बुद्धि प्रखर, बोध-क्षमता विकसित और विवेक पुष्ट होता है। यह ऐसे मार्ग का दिग्दर्शन कराती है, जिससे मनुष्य पथभ्रष्ट होने से बच जाता है तथा सही मार्ग का अनुसरण करके अपना इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन सुखमय बनाता है। शास्त्रों की यह उक्ति विद्या के महत्व को पूर्णरूपेण स्पष्ट करती है-







## ‘स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान सर्वत्र पूज्यते’

शिक्षा के महत्व पर प्रकाश डालते हुए शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि स्वाध्याय और प्रवचन करने से मनुष्य का चित्त एकाग्र होता है, वह स्वतन्त्र बनता है, नित्य उसे धन की प्राप्ति होती है, वह सुख से सोता है, उसका इन्द्रियों पर संयम होता है, उसकी प्रज्ञा बढ़ती है, उसे यश मिलता है और वह अपने को संसार के अभ्युदय में लगा देता है।

महाकाव्यों में यद्यपि मुख्य रूप से युद्धों का वर्णन मिलता है, लेकिन इसके साथ-साथ हमें शिक्षा सम्बन्धी तत्व प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। महाकाव्यों में शिक्षा के इसी महत्व को देखते हुए मैंने इस विषय पर कार्य करने का निश्चय किया है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इस शोध-प्रबन्ध को छः अध्यायों में विभक्त किया गया है।

प्रथम अध्याय में शिक्षा की अवधारणा एवं महत्व पर प्रकाश डाला गया है, इसके अन्तर्गत शिक्षा का अर्थ एवं अभिप्राय, वैदिक साहित्य में शिक्षा का स्वरूप, सूत्र साहित्य में शिक्षा का स्वरूप तथा शिक्षा के प्रमुख उद्देश्यों जैसे धार्मिक भावना का विकास, चरित्र का उत्थान, व्यक्तित्व का विकास, सामाजिक कर्तव्यों मूल्यों का निर्वाह, सांस्कृतिक मूल्यों एवं परम्पराओं का निर्वहन तथा व्यवसायिक निपुणता को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

महाकाव्यकालीन शिक्षा के स्वरूप का विस्तृत विवेचन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समाज में शिक्षा का उद्देश्य समाज को







साक्षर ही नहीं अपितु सुसंस्कृत भी बनाना था। विद्यार्थी को स्वच्छता और शिष्टाचार, विनम्रता और सुशीलता, संयम और सदाचार, सत्य, दया और धर्मपरायणता की भावनाओं से प्रेरित कर उसे एक सुयोग्य नागरिक बनाना शिक्षा का यथार्थ लक्ष्य था। इसका उत्तरदायित्व समाज के उन गुरुओं को सौंप रखा था, जो स्वयं अरण्यों में रहकर त्याग और धार्मिक अनुशासन का जीवन व्यतीत करते थे। इस प्रकार धर्म और सदाचार आदि की शिक्षा केवल उपदेशों द्वारा नहीं अपितु क्रियात्मक जीवन के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की जाती थी।

द्वितीय अध्याय में गुरु और शिष्य की अवधारणा पर प्रकाश डाला गया है। जिसके अन्तर्गत तत्कालीन समाज में गुरु की योग्यता एवं उसके कर्तव्य, गुरु के प्रकार, गुरु-शिष्य के सम्बन्धों तथा शिष्य की योग्यता एवं उसके कर्तव्य प्रमुख हैं। महाकाव्यकालीन शिक्षा-पद्धति में गुरु अथवा आचार्य को सर्वोच्च स्थान प्राप्त रहा है तथा उसे देवता सदृश पूज्य माना जाता था। इस कारण तत्कालीन समाज में गुरु से अनेक गुणों एवं कर्तव्यों की अपेक्षा की जाती थी। यहां गुरु को विनयी, विनम्र, निष्पक्ष, शान्तचित्त, नैष्ठिक, ब्रह्मचारी, भेद-भाव रहित एवं विद्या-पारंगत गुणों से युक्त होना आवश्यक बताया गया है, किन्तु इसके साथ-साथ उसे वाक्चतुर, वक्ता, प्रत्युत्पन्नमति, तार्किक, रोचक कथाओं का ज्ञाता तथा कठिन से कठिन प्रश्न तत्काल हल कर देने वाला होना भी अनिवार्य था।







आचार्य बालक का आध्यात्मिक एवं बौद्धिक जनक माना जाता था।

अतः उसका यह प्रमुख कर्तव्य था कि वह शिष्य के अज्ञानान्धकार को दूर कर उसमें ज्ञान की अन्तर्ज्योति जलाये इसीलिए रामायण में वशिष्ठ ने आचार्य को माता-पिता से भी ऊँचा पद दिया है। उनके अनुसार माता-पिता तो हमारे जन्म के श्रोत हैं, पर आचार्य हमें प्रज्ञा-चक्षु प्रदान करता है। राम ने भी माता-पिता के समान गुरु को आराधना एवं अर्चना का पात्र माना है। महाभारत में भी इसी तरह की भावना को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि शिष्य को छात्र इसलिए कहा जाता है, क्योंकि आचार्य उसको ज्ञान से आच्छादित कर दोषों से बचाता है।

इसी प्रकार शिष्य को आत्माभिमानी, आत्मविश्वासी, आत्मनिग्रही, चरित्रवान तथा उसका सर्वांगीण विकास करना गुरु का पावन कर्तव्य माना जाता था। महाकाव्यों में अनेक प्रकार के अध्यापकों का उल्लेख मिलता है। इनमें कुलपति, गुरु, आचार्य और उपाध्याय प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त परिव्राजक, ब्रह्मवादी, श्रोतिय, तापस, शिक्षक तथा भिक्षु और भिक्षुणियों का उल्लेख अध्यापक के रूप में मिलता है। इन अध्यापकों में विश्वामित्र, भारद्वाज, वाल्मीकि, कण्व, धौम्य, शुक्राचार्य, वेदव्यास, सान्दीपनि, शौनक, परशुराम, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा सुन्धवा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

गुरु की भांति शिष्यों में भी अनेकानेक गुणों एवं कर्तव्यों का होना आवश्यक माना जाता था। शिक्षा प्राप्ति के निमित्त विद्यार्थी को जिज्ञासु,







विनम्र, विनयशील, मृदुभाषी, अप्रमादी, आलस्यरहित, गर्वरहित, अहिंसक, सावधान, कर्तव्य-परायण, विनीत, सेवा-परायण, इन्द्रिय निग्रह, शील, संयम आदि गुणों का होना आवश्यक था। गुरु आश्रम में रहकर विद्यार्थी को अनेक कर्तव्यों का पालन भी करना पड़ता था, जिसमें गुरु की शुश्रूषा करना, सूर्योदय तथा शैय्या-त्याग के पूर्व जागकर नित्यकर्मों में सहायता करना, गुरु की आज्ञा के निमित्त समस्त यज्ञ-सामग्रियों को अर्थात् काण्ड, कुश, समिधा, फल-पुष्प आदि एकत्र करना और भिक्षा द्वारा अन्न संग्रहण करना प्रमुख था। इसके साथ ही विद्यार्थी को आश्रम में बहुत ही संयमित एवं कठोर जीवन व्यतीत करना पड़ता था। शास्त्रकारों के अनुसार वह असत्य भाषण, गाली-गलौच तथा चुगलखोरी से दूर रहता था। प्रतिदिन स्नान करता था, सूर्य की ओर नहीं देखता था, मधु, मांस, सुगन्धित तेल तथा पुष्पों का सेवन नहीं करता था, दिन में शयन नहीं करता था, तेल-मर्दन नहीं करता था, आंखों में सूरमा नहीं लगाता था, गाड़ी पर नहीं बैठता था, छाता एवं जूतों का प्रयोग नहीं करता था और प्रणय, क्रोध, लालच, मोह, व्यर्थ वाद-विवाद, वाद्ययंत्र-वादन, गर्म जल में आनन्ददायक स्नान, शीघ्रता से दांत स्वच्छ करना, मन में उत्साहपूर्ण स्थिति, नृत्य, गायन, परनिन्दा, भयावह स्नान, नारी-दर्शन एवं युवा नारियों के स्पर्श, धूतकर्म, निम्नकर्म, हिंसा, अश्लील बातचीत, मैथुन तथा मदिरा सेवन से दूर रहता था। जोर से गला स्वच्छ करना, जम्हाई लेना और अंगुली चटकाना भी उसके लिए निषिद्ध था। वह कभी हंसता नहीं था और यदि हंसना भी पड़ता था तो वह हाथ से मुंह ढक लेता था। वह स्त्रियों के सम्पर्क में







नहीं आता था और न ही अपने मन में उनके प्रति किसी प्रकार की कामना करता था। वह स्त्रियों से केवल आवश्यकता भर बात कर करता था।

इस समय गुरु तथा शिष्य के परस्पर सम्बन्ध अत्यन्त मधुर, स्नेहिल तथा सौहार्दपूर्ण पाते हैं। गुरु एवं शिष्य के सम्बन्ध को हम इसी से समझ सकते हैं कि शिष्य को 'त्रिमूर्धा' अथवा 'माता-पिता-गुरु' का ज्ञानानुभव रखने वाला कहा जाता था, अर्थात् शिष्य के लिए गुरु का महत्व माता-पिता तुल्य था। इसीलिए रामायण में वर्णित है कि माता-पिता और ज्येष्ठ भ्राता की तरह गुरु भी शिष्य के पितरों में गिना जाता है। जहां गुरु विद्यार्थियों को कुशल, व्यवहारिक, सक्षम, कार्यशील एवं उत्तरदायी नागरिक बनाकर उसे सभी प्रकार से योग्य बनाते थे वही शिष्य भी गुरु के आदेशों का पालन करना अपना कर्तव्य समझते थे। यद्यपि इस सम्बन्ध में द्रोणाचार्य एवं एकलव्य का उदाहरण एक अपवाद के रूप में प्राप्त होता है, जिसमें गुरु द्रोणाचार्य का गुरु-दक्षिणा के रूप में एकलव्य के दाएं हाथ के अंगूठे की मांग की ओर उसने बिना किसी प्रश्न के उसे गुरु चरणों में समर्पित कर दिया।

तृतीय अध्याय शिक्षण-पद्धति से सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत महाकाव्यों में पढाये जाने वाले प्रमुख शिक्षण विषय, शिक्षण विधि, शिक्षण अवधि तथा स्त्रियों की शिक्षा के स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया गया है।







तत्कालीन समय में शिक्षा के निमित्त अनेकानेक विषयों की शिक्षा की जाती थी। रामायण में वर्णित है कि राजा को धनुर्वेद, वेद, नीतिशास्त्र, शिक्षा, गणशास्त्र तथा विविध कलाओं का अध्ययन करना चाहिए। साथ ही उसको सांख्य, न्याय, गन्धर्व विद्या तथा राजनीति को भी सीखना चाहिए। इसी प्रकार महाभारत से चतुर्वेद, षडंग सहित वेद, दस भाग सहित धनुर्वेद, आख्यान, अर्थविद्या, इतिहास, योग, सांख्य, कर्मकाण्ड, दर्शन, उपनिषद्, आयुर्वेद एवं शल्य-चिकित्सा आदि शिक्षण के प्रमुख विषयों की जानकारी प्राप्त होती है। इसके साथ-साथ हस्तिसूत्र, अश्वसूत्र, रथसूत्र, धनुर्वेद, यंत्रसूत्र एवं नागरशास्त्र (नगर के हितकार्यों की ज्ञानजनक विद्या) राजाओं के लिए विशेष रूप से ज्ञातव्य थे। चूंकि महाकाव्य-काल एक युद्ध-बहुल युग था। अतः सैन्य-शिक्षा को हम इस समय अत्यधिक महत्वपूर्ण विषय के रूप में प्रतिष्ठित पाते हैं। इस समय काम-शास्त्र का उल्लेख भी शिक्षण-विषय के रूप में मिलता है। रामायण में वर्णित है कि राम को काम-शास्त्र की शिक्षा प्रदान की गई थी। काम-शास्त्र का उल्लेख इस बात का सूचक है कि उपयुक्त अवस्था में विद्यार्थियों को इस शास्त्र का ज्ञान करना भी आवश्यक माना जाता था। भारत को छोड़कर शायद ही अन्य किसी देश की शिक्षा-व्यवस्था में काम-शास्त्र को शिक्षा विषय के रूप में इतनी प्राचीन स्वीकृति मिली हो। इनके अतिरिक्त कतिपय रहस्यमयी विद्याओं के प्रचार-प्रसार का भी उल्लेख मिलता है, जिनमें स्वच्छन्दबलगामिनी विद्या, सर्वभूतरूत विद्या, चक्षुष्मती विद्या, कामरूपधारिणी विद्या, सर्पदंश विद्या तथा संजीवनी आदि प्रमुख थे।







इस समय मुख्यतया मौखिक शिक्षण-पद्धति ही प्रचलित थी जिसमें अध्यापक कुछ मंत्रों का उच्चारण करता था और शिष्य उन्हें सुनकर एवं समझकर मंत्रों को कंठस्थ करता था। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि लेखन कला का सर्वथा अभाव था, लेकिन चूंकि मुद्रण-कला का अविष्कार नहीं हुआ था इसलिए पुस्तकों को हाथ से ही लिखा जाता था। विद्यार्थी पूरी पुस्तक की प्रतिलिपि हाथ से लिखकर पूर्ण करते थे और उसके द्वारा अध्ययन को गति देते थे।

तत्कालीन समाज में शिक्षा देने की अनेक पद्धतियां प्रचलित थीं, जिसमें कंठस्थ करने की पद्धति, प्रवचन, व्याख्यान, प्रश्नोत्तर तथा प्रयोगात्मक पद्धतियां प्रमुख थीं। व्याख्यानों को रोचक बनाने के लिए दृष्टान्तों का आश्रय लिया जाता था। दैनन्दिन जीवन के प्रसंगों में पाये जाने वाले तत्वों को भी दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत किया जाता था। शतपथ ब्राह्मण में आत्मा से जगत्-सृष्टि बताते हुए कहा गया है कि जैसे मकड़ी से तन्तु निकलते हैं तथा जैसे अग्नि से चिंगारियां निकलती हैं, उसी प्रकार आत्मा से समस्त प्राण, लोक, देवगण तथा भूतादि विविध रूप से उत्पन्न होते हैं।

इस समय साधारणतः विद्यार्थी 12 वर्ष की अवस्था में आश्रमों में जाते थे और 25 वर्ष की अवस्था होने के समय तक वहां रहते थे। यद्यपि महाकाव्यों में ब्रह्मचर्याश्रम पर 25 वर्ष की पाबंदी लगाने का प्रमाण नहीं मिलता है। जो छात्र अत्यन्त मेधावी होते थे वे अन्य छात्रों की अपेक्षा अपने विषयों को अल्प समय में ही ग्रहण कर लेते थे। इसी प्रकार जो







छात्र मन्द बुद्धि के होते थे उन्हें लम्बे समय तक आश्रमों में रहना पड़ता था।

स्त्रियों को भी पुरुषों के समान प्रायः सभी व्यवहार उपयोगी विषयों की शिक्षा दी जाती थी। इनमें से कुछ विषयों की शिक्षा स्त्री विवाह से पूर्व माता, पिता एवं गुरु से प्राप्त करती थी तथा शेष पति एवं अन्य स्रोतों से विवाह के पश्चात् प्राप्त करती थी। इसी आधार पर महिला छात्राओं के दो वर्ग थे। एक सद्योवधू जो अपने विवाह के समय तक ही अध्ययन करती थी, जैसे कौशल्या, कैकेयी, सीता, मन्दोदरी, शकुन्तला, कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा तथा रुक्मणी आदि। दूसरा ब्रह्मवादिनी छात्राएं जो आजन्म अविवाहित रहकर स्वाध्याय और तपस्या में संलग्न रहती थी जैसे स्वयंप्रभा तथा वेदवती।

चतुर्थ अध्याय शिक्षा सम्बन्धी संस्कारों से सम्बन्धित है। वास्तव में महाकाव्यकालीन शिक्षण-प्रणाली संस्कार पद्धति पर ही आश्रित है, क्योंकि विद्यार्थी को सुसंस्कृत करना ही महाकाव्यकालीन शिक्षा का सर्वोच्च लक्ष्य रहा है। ज्ञान के उपार्जन और परिमार्जन में ही नहीं अपितु विद्यार्थियों के नैतिक चरित्र और व्यक्तित्व के निर्माण में भी संस्कारों का महत्वपूर्ण स्थान है, जैसे मिट्टी के नये बर्तन पर खींची गयी लकीर हमेशा के लिए अंकित हो जाती है वैसे ही कोमल हृदय विद्यार्थियों के अबोध अन्तःकरण पर पड़े संस्कार अमिट होते हैं। सोलह संस्कारों की परम्परा में महाकाव्यकालीन संस्कृति में हम चार यथा विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारंभ तथा समावर्तन शिक्षा से सम्बन्धित पाते हैं।







जब बालक का मस्तिष्क शिक्षा ग्रहण करने के योग्य हो जाता था तब शिक्षा का आरंभ विद्यारम्भ संस्कार से किया जाता था और उसे अक्षर सिखाए जाते थे। बालक की वास्तविक शिक्षा उपनयन संस्कार से आरम्भ होती थी। इस संस्कार द्वारा आचार्य विद्यार्थी को अपने गर्भ में धारण करता था, जिससे उसका दूसरा जन्म होता था और वह 'द्विज' कहलाता था। इस संस्कार के अनन्तर वास्तविक शिक्षा प्रारम्भ करने के अवसर पर वेदारम्भ संस्कार सम्पन्न किया जाता था और अंततः शिक्षा के समाप्त होने तथा विद्यार्थी के गृहगमन के समय समावर्तन संस्कार किया जाता था।

पंचम अध्याय में प्रमुख शिक्षण संस्थाओं एवं शिक्षा-केन्द्रों का विस्तार पूर्वक प्रतिपादन किया गया है। इस समय मुख्य रूप से तीन शिक्षण संस्थाओं-गुरुकुल, ऋषि आश्रम तथा राजश्रय में शिक्षण संस्थान का प्रचलन मिलता है, जिसमें गुरुकुल प्रमुख शिक्षण संस्था थी। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य शिक्षण-संस्थाओं का भी उल्लेख मिलता है जैसे- परिषद्, यज्ञ-सत्र, श्रेणी एवं चरण आदि जो शिक्षा के प्रसार में योगदान करती थी।

वास्तव में महाकाव्यकालीन शिक्षा-प्रणाली गुरुकुलाधारित शिक्षा-प्रणाली थी। इसमें केवल पुस्तकीय ज्ञान पर ही नहीं अपितु व्यवहारिक आदर्श एवं चरित्र-निर्माण समान रूप से ध्यान दिया जाता था। विद्यार्थी गुरुकुल में 'अन्तेवासी' बनकर शिक्षा ग्रहण करते थे। बाल-विद्यार्थी गुरु के आश्रम में निवास करता हुआ गुरु की निजी देख-रेख में अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करता था। उसके हृदय और मस्तिष्क का भार एक ऐसे विशेषज्ञ







पर रहता था, जो इस कार्य के लिए सर्वथा योग्य एवं प्रशिक्षित होता था तथा जिसके जीवन का एक मात्र ध्येय अध्ययन-अध्यापन होता था।

गुरुकुल वहीं स्थापित होते थे जहां यज्ञ कर्म की समिधाओं के लिए आस-पास हरे-भरे वृक्षों वाले वन हों, गौओं को चराने के लिए विस्तृत भू-भाग हों तथा स्नानादि क्रियाओं के लिए पास ही सरिता सरोवर हों। इस तरह वन-सम्पदा का पोषण, गौ-पालन एवं कृषि कार्य के द्वारा विद्यार्थियों को पर्यावरण-संरक्षण और गौ-दोहन हेतु उपयोगी प्रशिक्षण मिलता था। इस प्रकार वास्तव में विद्यार्थियों का मनोरम प्राकृतिक वातावरण में रहकर बलिष्ठ शरीर का निर्माण, समानता का जीवन जीकर सामाजिक चेतना की प्राप्ति तथा गुरु के आदर्श जीवन से प्रेरणा लेकर आत्मिक विकास तथा व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास गुरुकुल की ही देन होती थी।

इस प्रकार कुछ अध्यापक व्यक्तिगत रूप से अपने उत्तरदायित्व पर शिक्षण कार्य करते थे। यद्यपि ये शिक्षक सम्पूर्ण भारत में फैले हुए थे तथापि स्थान-स्थान पर सुविधानुसार बड़ी संख्या में इनका समुदाय बन जाता था। इन्हीं परिस्थितियों में महाकाव्य-काल में तक्षशिला, अयोध्या, काशी तथा मिथिला शिक्षा के प्रमुख केन्द्र बने।

षष्ठ अध्याय उपसंहार के रूप में है, जिसमें महाकाव्यों में शिक्षा के स्वरूप एवं आदर्श का निष्कर्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।







